

धर्म का सार

सत्यनारायण गोयन्का



विपश्यना विशोधन विन्यास,
धम्मगिरि, इगतपुरी- ४२२ ४०३,
महाराष्ट्र, भारत

विपश्यना: एक परिचय

श्री गोयन्काजी ने म्यंमा के महान विपश्यना आचार्य सयाजी ऊ बा खिन से सर्वप्रथम सन १९५५ में 'विपश्यना' की साधना सीखी। तब से अभ्यास का क्रम जारी रहा। सन १९६९ में भारत आये। व्यापार-धंधे से सर्वथा अवकाशग्रहण कर भारत के विभिन्न स्थानों पर **विपश्यना** साधना-विधि के दस दिवसीय शिविर लगाते रहे। सन १९७६ में प्रमुख विपश्यना केंद्र 'धम्मगिरि' की स्थापना के पश्चात अब तक पूरे विश्व में लगभग ५० विपश्यना केंद्र स्थापित हो चुके हैं तथा अन्य नए-नए केंद्र खुलते चले जा रहे हैं, जहां साधकों के लिए निःशुल्क निवास तथा भोजनादि की स्थाई व्यवस्था रहती है। विपश्यना सिखाने का सारा खर्च कृतज्ञ साधकों के दान पर निर्भर होता है। शिविरों का संचालन पूज्य गोयन्काजी तथा उनके द्वारा नियुक्त विश्व भर के लगभग ४०० से अधिक सहायक आचार्यों द्वारा किया जाता है। शिविर-काल के दौरान साधकों को बाहरी संपर्क से दूर, केंद्रों पर ही रहना अनिवार्य होता है।

भगवान गौतम बुद्ध द्वारा गवेपित 'विपश्यना' विद्या सर्वथा संप्रदायहीन एक प्रयोग प्रधान विधा है जिसमें अपने भीतर की सच्चाई का दर्शन करते हुए अपने मन को निर्मल बनाना तथा ऋतयानी प्रकृति के नियम के अनुसार आचरण करने का अभ्यास किया जाता है। इसी को धर्म कहते हैं। कालांतर में हम **धर्म** शब्द का सही अर्थ भूल गये और संप्रदाय को ही धर्म मानने लगे। आज जबकि धर्म के नाम पर चारों ओर इतनी अराजकता फैली हुई है, यह सांप्रदायिकता-विहीन विद्या घोर अंधकार में प्रकाश-स्तंभ सदृश है।

ध्यान की यह विद्या सीखने के लिए हर संप्रदाय के लोग - चाहे वे हिंदू हों या मुस्लिम; जैन, ईसाई, बौद्ध हों या सिक्ख - सभी आते हैं। बच्चों से लेकर वृद्ध बुजुर्गों तक सब उम्र के लोग आते हैं। बहुत ऊंची शिक्षा प्राप्त व्यक्ति भी आते हैं तो दूसरी ओर बिल्कुल निरक्षर अनपढ़ लोग भी आते हैं। अत्यंत धन-संपन्न भी आते हैं और बिल्कुल धनहीन भी। पुरुष-नारी तथा डॉक्टर, वकील, इंजीनियर, व्यापार-उद्योगों के संचालक सभी आते हैं। किसी भी विपश्यना शिविर में समाज के हर वर्ग का यह अनूठा संगम आसानी से देखा जा सकता है। इतनी विविधताओं के होते हुए भी सभी लोग लाभान्वित होते हैं।

पूज्य श्री गोयन्काजी का यह लेख अधिक से अधिक लोगों को धर्म-मार्ग पर चल सकने के लिए प्रेरणा प्रदायक सिद्ध हो, यही मंगल भावना है।

विपश्यना विशोधन विन्यास.

मूल्य: रु. १/-

प्रकाशक :

विपश्यना विशोधन विन्यास

धम्मगिरि, इगतपुरी- ४२२४०३, जिला- नाशिक, महाराष्ट्र, भारत

फोन: ०२५५३- २४४०७६, २४४०८६, २४४३०२ फैक्स: ०२५५३- २४४१७६.

धर्म का सार

ठीक से समझे हुए धर्म को ही ठीक से पालन किया जा सकता है। धर्म के सार को समझें। सार को समझेंगे तभी उसे ग्रहण कर पायेंगे अन्यथा भीतर का सार-तत्त्व छोड़ कर छिलकों में ही उलझे रह जायेंगे। उन्हें ही सार समझ कर धर्म मानने लगेंगे।

सार में सदा समानता रहती है। भिन्न-भिन्न छिलके हुआ करते हैं और जहां इन छिलकों को धर्म मान लिया जाता है वहां धर्म भी भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। यह हिंदुओं का धर्म, हिंदुओं में भी सनातनी, आर्यसमाजी। यह बौद्धों का धर्म, बौद्धों में भी महायानी, हीनयानी। यह जैनियों का धर्म, जैनियों में भी दिगंबरी, श्वेतांबरी। यह ईसाइयों का धर्म, ईसाइयों में भी कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट। यह मुसलमानों का धर्म, मुसलमानों में भी शिया, सुन्नी आदि-आदि धर्म; भिन्न-भिन्न ही नहीं, परस्पर विरोधी भी। निस्सार छिलकों को महत्त्व दिये जाने के कारण ये विभिन्नताएं हैं और इन्हें लेकर ही पारस्परिक विरोध उत्पन्न होते हैं।

कोई चोटी रखे हुए है, कोई दाढ़ी। चोटी मोटी है या पतली? दाढ़ी मुँड़ी मूँछवाली या भरी मूँछवाली? कोई सिर के बाल बढ़ाए हुए है – बाल खूब सजे-सँवरे हैं या रूखे-सूखे जटा-जटिल? कोई सिर मुँड़ाए हुए है तो वह भी उस्तरे से या चिमटी से? किसी ने कान छिदवा रखे हैं तो उनमें बालियां पहनी हैं या कुंडल या मुद्राएं? कोई तिलक लगाए हुए है तो तिलक चंदन का है या रोली का या भस्म का? इस आकार का है या उस आकार का? कोई माला पहने है तो वह रुद्राक्ष की है या चंदन की या तुलसी की? बीच में लटक नवाली है या बिना लटक नवाली? यदि लटक नवाली है तो उसमें किस देवी, देवता, गुरु, आचार्य का चित्र या चिह्न लटकता है? कोई निर्वस्त्र है तो कोई वस्त्र पहने हुए। वस्त्र पहने है तो वह सिला है या अनसिला? इस रंग का है या उस रंग का? इस बनाव-कटाव का है या उस बनाव-कटाव का? धोती है या लुंगी? पाजामा है या पतलून? कमीज है या कुर्ता? अचक न है या कोट? दुपल्ली टोपी है या तुर्की टोपी या अँग्रेजी हैट? कोई गले, भुजा, कलाई, पैर या अँगुलियों में डोरा बांधे है अथवा जंतर, ताबीज या गंडा? और है तो उसमें कोई अंक है या अक्षर? या शब्द? या मंत्र? या तंत्र? या यंत्र? कोई हाथ में पात्र लिए है या कर्पात्री है? पात्र है तो मिट्टी का है? लकड़ी का है? लोहे का है? या अन्य किसी धातु का?

ये अनेक रूप-रूपाय, भिन्न-भिन्न बाह्याडंबर, वेप-भूषा, आकार-प्रकार, बनावट-सजावट, भिन्न-भिन्न संप्रदायों के प्रतीक मात्र ही नहीं हैं, प्रत्युत भिन्न-भिन्न धर्म बन कर पारस्परिक विरोध का कारण बन गये हैं। कभी-कभी सीधर्मनेता ने प्यासी जनता को अमृत-जैसा धर्मरस दिया। परंतु जिस पात्र में दिया वह पात्र ही हमारे लिए प्रमुख हो गया। कालांतर में जब वह पात्र जीर्ण हुआ तो उसमें छेद होकर सारा धर्मरस बह गया। खोखला पात्र ही हमारे पास रह गया। इस पात्र के रस को हमने जाना या चखा

नहीं। इसलिए यह खोखला पात्र हमारे लिए धर्म हो गया और इसे छाती से चिपकाये रखने को हम जीवन की सार्थकता मानने लगे।

जैसे भिन्न-भिन्न रूप-सज्जा जैसे ही भिन्न-भिन्न थोथे, निर्जीव, निष्प्राण कर्मकांड हमारे लिए धर्म बन गये हैं और हमें उनसे गहरा चिपकाव हो गया है। शुद्ध धर्म फिर छूट गया और हम चूल्हे, चौके को, कच्ची या पक्की रसोई को, जात-पांत को, छूआ-छूत को, इस या उस नदी, पोखरे अथवा समुद्र में नहाने को, इस या उस तीर्थ की यात्रा कर लेने को ही धर्म मानने लगे हैं। इस या उस मंदिर, मस्जिद, गिरजा, चैत्य, उपाश्रय, गुरुद्वारे में सुबह-शाम हाजिरी दे आने को ही धर्म मानने लगे हैं। पूर्व या पश्चिम की ओर मुँह करके खड़े होकर या बैठ कर, घुटने मोड़ कर या पालथी मार कर, हाथ जोड़ कर या अंजली पसार कर, पंचांग, अष्टांग या दंडवत प्रणाम करके इस या उस देवी, देवता, गुरु, आचार्य या धर्मनेता की तस्वीर, मूर्ति, चरणचिह्न, पादपीठ या धातु-अवशेष अथवा उसके उपदेश-ग्रंथ के सामने वंदना करने, सिर झुकाने, दीप जलाने, नैवेद्य चढ़ाने, आरती उतारने, शंख बजाने, घंटे-घड़ियाल बजाने, नाचने, गाने, अजान पढ़ने, स्तोत्र पढ़ने, उसके नाम की माला जपने अथवा उसकी वाणी के पाठ करने को ही धर्म मानने लगे हैं। भले यह सब यंत्रवत ही क्यों न होता हो। इसी प्रकार भयभीत चित्त द्वारा कि सी की मनौती मनाने, प्रसाद चढ़ाने, जात-झडुला, जादू-टोना, अथवा झाड़-फूंक करने को ही धर्म मानने लगे हैं। कि सी अज्ञात अदृश्य सत्ता को संतुष्ट-प्रसन्न करने के लिए मुर्गी, बकरे, गाय, भैंसे या मनुष्य तक की बलि चढ़ाते हैं और इसे भी धर्म ही मानते हैं। कोई बलि चढ़ाते हुए एक झटके में धड़ से सिर अलग करने को और कोई धीरे-धीरे तड़पा-तड़पा कर मारने को ही धर्म मानते हैं। इन भिन्न-भिन्न कर्मकांडोंवाला धर्म बाजार में भी बिकने लगा है। हम चाहें तो पैसे के बल पर ऐसे धर्म को खरीद सकते हैं। जो कर्मकांडस्वयं नहीं कर सकते, उसे कि राये के लोगों से करवा सकते हैं। यह सत्य-धर्म का घोर अवमूल्यन है!

सत्य-धर्म की उपलब्धि के लिए हमें जो साधन मिले, हमारी नासमझी के कारण वे ही हमारे लिए बंधन बन गये। कि सी संत पुरुष ने हमें अंधकार में भटकते देख अत्यंत करुण चित्त से हमारे हाथ में जलती हुई मशाल पकड़ाई ताकि उस प्रकाश के सहारे हम सही रास्ते चल कर अपनी जीवन-यात्रा सकुशल पूरी करें। परंतु कालांतर में उस मशाल की ज्योति बुझ गयी। हमारे हाथ में केवल डंडा रह गया और हम मूढ़तावश उस डंडे को ही मशाल मानकर उससे चिपक गये। शिव छूट गया, शव रह गया। थोथा बाह्याचार ही हमारे लिए धर्म बन गया। ऐसी दयनीय स्थिति में आकंठ डूबा होने के कारण ही कोई प्रवासी भारतीय कहता है, “मुझे बर्मा आए चालीस वर्ष बीत गए। यहां आकर मैंने चोरियां कीं, छल-कपट किया, व्यभिचार किया, नशा-पता किया; लेकिन अपना धर्म नहीं छोड़ा।” “कैसे धर्म नहीं छोड़ा?” पूछने पर बड़े सहज भाव से जवाब देता है, “इन चालीस वर्षों में मैंने कभी कि सी बर्मा के हाथ का छुआ पानी तक नहीं पिया।” कैसी दयनीय दशा बना ली है हमने बेचारे धर्म की!

कभी यह भी होता है कि इन बाह्याचार और बाह्याडंबर रूपी स्थूल छिलकों को तो हम धर्म नहीं मानते हैं, परंतु इनकी जगह ऐसे सूक्ष्म-सूक्ष्म छिलकों को धर्म मानने लगते

हैं जो अधिक भ्रामक और अधिक बांधने वाले होते हैं। जब हम किसी अंध मान्यता, अंध भावावेश, अथवा बौद्धिक तर्क जालको धर्म मानने लगते हैं तो उसमें अधिक बुरी तरह उलझ जाते हैं। हम जिस परिवार में जन्मे हैं, जिस परिवेश में पले हैं, उस वंश-परंपरा की किसी मान्यता के बारे में बार-बार सुनते रहे हैं। अतः उस मान्यता की लकीर बार-बार मन पर पड़ते-पड़ते इतनी गहरी बन गयी है कि उसे छोड़ कर और कोई मान्यता सही हो सकती है, इसे स्वीकार करने तक को तैयार नहीं होते। हम जिस दार्शनिक परंपरा को मान रहे हैं, उसके साथ हमारा एक भावनात्मक संबंध जुड़ जाता है। फलस्वरूप उसके विपरीत अन्य किसी दृष्टिकोण को भी स्वीकार ही नहीं कर सकते। अथवा यह भी होता है कि अपनी तर्क बुद्धि से हमने किसी मान्यता को अपना लिया है तो अपने ही बुद्धिबल को अत्यधिक महत्ता देने के स्वभाववश अन्य किसी मान्यता को सही मानने को प्रस्तुत ही नहीं होते। परंपरागत मान्यता, हृदयगत भावुकता अथवा बौद्धिक तर्क जालके कारण जब हम किसी भी मान्यता के गुलाम हो जाते हैं तो उसके प्रति इतनी गहरी आसक्ति पैदा कर लेते हैं कि हमेशा के लिए उसी के रंग का चश्मा पहन लेते हैं। अतः उस रंग के अतिरिक्त अन्य कोई रंग हमें दीखता ही नहीं। इस प्रकार सच्चाई से, शुद्ध धर्म से दूर हो जाते हैं। क्योंकि हर बात को अपने ही चश्मे के रंग से देखने के आदी हो जाते हैं।

मान लो, अंधविश्वास, भावावेश अथवा बौद्धिक ऊहापोह के आधार पर हमने कोई सही सिद्धांत ही स्वीकार कर रखा हो, परंतु उसके प्रति हुई आसक्ति के कारण उस सिद्धांत को स्वीकारने मात्र को ही सारा महत्त्व देने लगते हैं, उसके व्यावहारिक पक्ष को सर्वथा भुला देते हैं। किसी सिद्धांत को स्वीकारने मात्र से क्या बनता है? मुख्य बात तो उस सिद्धांत को, यदि वह सही है तो, जीवन में उतारना चाहिए। जो जीवन में उतरे वही सही धर्म है अन्यथा निस्सार भावुकता है, थोथा बुद्धि-विलास है।

सैद्धांतिक स्तर पर हम आत्मवादी हैं या अनात्मवादी, ईश्वरवादी हैं या निरीश्वरवादी, द्वैतवादी हैं या अद्वैतवादी, इतने प्रकार के तत्त्वों की संख्या गिनने वाले हैं या उतने प्रकार के तत्त्वों की, इन-इन तत्त्वों की ऐसी-ऐसी व्याख्या करने वाले हैं या वैसी-वैसी, इससे क्या अंतर पड़ता है? मुख्य बात तो यह है कि व्यावहारिक जगत में हम शुद्ध चित्त का जीवन जी रहे हैं या नहीं। अपने आपको ईश्वरवादी कहने वाला व्यक्ति कलकी चिंता में कि तना व्याकुल हो रहा है? अपने आपको अनात्मवादी कहने वाला व्यक्ति अपने अहं में कि सक दर डूबा हुआ है? ऐसी अवस्था में कोरा सैद्धांतिक पक्ष किस काम का? मुख्य बात तो व्यावहारिक पक्ष की है, आचरण की है। शुद्ध चित्त पर आधारित आचरण ही धर्म है। कोई विशेष वेशभूषा पहनें या न पहनें, कोई विशेष कर्मकांडसंपन्न करें या न करें, कोई विशेष दार्शनिक मान्यता मानें या न मानें; परंतु यदि हमारा मन-मानस द्वेष-दौर्मनस्य से भरा रहता है तो हम सर्वथा धर्महीन हैं और यदि वह स्नेह-सौमनस्य से भरा रहता है तो हम धार्मिक ही हैं। कोई वेष-भूषा, कोई कर्मकांड, कोई दार्शनिक मान्यता हमारे चित्त की विशुद्धि में सहायक सिद्ध होती हो तो ग्राह्य है और यदि हमारी चित्तशुद्धि से उसका कोई संबंध नहीं हो तो निरर्थक, निस्सार है। अगर यही हमें धार्मिक होने की मिथ्या भ्रांति पैदा करने वाली हो जाय तो जहरीले

सांप की तरह खतरनाक है। अतः सर्वथा त्याज्य है। जब हम धर्म के सत्यसार को नहीं समझते तो ऐसे ही खतरनाक जहरीले सांप-बिच्छू अपने भीतर पालते हैं। भांति-भांति के गंदे कूड़े-करकट्टोर कर उन्हें अपनी छाती से लगा कर कहेते हैं – यही हमारा धर्म, यही अनमोल रत्न, यही मणि है।

जब तक धर्म की वास्तविक मणि नहीं प्राप्त होती, तब तक हम कंगाल हैं। हमारा जीवन निस्सार दिखावे, निरर्थक कर्मकांड और निकम्मे बुद्धिकि लोलसे भरा रहता है। परंतु इतना होते हुए भी यदि हम इस सच्चाई को समझते हों कि यह सब सारहीन छिलके हैं, धर्म का सार तो चित्त की शुद्धता में है, राग-द्वेष-मोह के बंधनों से मुक्त होने में है, विषम स्थितियों में भी चित्त की समता बनाए रखने में है, मैत्री, करुणा, मुदिता में है और साथ-साथ यह भी समझते हों कि यह गुण हममें नहीं हैं, तो देर-सबेर हम धर्म के सार को प्राप्त कर ही लेते हैं। लेकिन जब हम इन निस्सार छिलकों को ही धर्म मानने लगे तो शुद्ध धर्म प्राप्त कर सकने की सारी संभावनाएं समाप्त हो जाती हैं। हम इन बाह्य छिलकों में रमे हुए कभी भी भीतर की ओर निहारते ही नहीं, आत्मनिरीक्षण करते ही नहीं। हम यह जांच कभी करते ही नहीं कि जिसे धर्म माने जा रहे हैं, उसकी वजह से हमारे मन-मानस में क्या सुधार हो रहा है? हमारे जीवन-व्यवहार में क्या सुधार हो रहा है? जन्म-मरण से मुक्ति पाने की हजार चर्चाएं करेंगे, हजार आशाएं बांधेंगे, परंतु यहां इसी जीवन में मन को विकारों से मुक्त करने का जरा भी प्रयत्न नहीं करेंगे। धर्म का सार छूट जाने से जितनी बड़ी हानि होती है, उससे कई गुना बड़ी हानि निस्सार को सार समझकर उससे चिपक जाने से होती है। इससे तो रोग असाध्य हो उठता है।

धर्म की शुद्धता को जानना, समझना, जांचना, परखना, रोग-मुक्ति का पहला आवश्यक कदम है। शुद्ध धर्म सदा स्पष्ट और सुबोध होता है। उसमें रहस्यमयी गुथियां नहीं होतीं। पहेली बुझौवल नहीं होता। दिमागी कसरत नहीं होती। प्रतीकों और अतिशयोक्तियों से भरा हुआ पांडित्य-प्रदर्शन नहीं होता। जो कुछ होता है वह सहज ही होता है। धर्म की शुद्धता इसी में है कि उसमें अटक लपचकूक पोलक लपनाएं नहीं होतीं। जो कुछ होता है यथार्थ ही होता है। धर्म को रा-मोरा सिद्धांत निरूपण नहीं होता। स्वयं साक्षात्कार, स्वयं अनुभव करने के लिए होता है। धर्म राजमार्ग की तरह ऋजु होता है। उसमें अंधी गलियों जैसी भूल-भुलैया नहीं होती। धर्म यहीं इसी जीवन में लाभ देने वाला होता है। जितना-जितना पालन किया जाय, उतना-उतना लाभ देता है। धर्म आदि, मध्य, अंत हर अवस्था में कल्याणकारी ही होता है। धर्म सर्वसाधारण के लिए समान रूप से ग्रहण करने योग्य होता है। ऐसा हो तो ही धर्म यथार्थ है, शुक्ल है, शुद्ध है। अन्यथा धर्म के नाम पर कोई धोखा हो सकता है।

शुद्ध धर्म क्या है ?

वाणी के कर्म, शरीर के कर्म, आजीविका, मानसिक स्वस्थता का अभ्यास, जागरूकता का अभ्यास, एकाग्रता का अभ्यास शुद्ध हो, मानसिक चिंतन और जीवन-जगत के प्रति दृष्टिकोण भी शुद्ध हो। यही शुद्ध धर्म है।

मोटे-मोटे तौर पर कह सकते हैं -

(१) **दान** - अहंकारविहीन अपरिग्रह हेतु दिया गया दान शुद्ध धर्म है।

(२) **शील** - सदाचार का पालन करना, हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मिथ्या-भाषण और नशे के सेवन से विरत रहना शुद्ध धर्म है।

(३) **समाधि** - मन को वश में करना, उसे एकाग्र कर वर्तमान के प्रति सजग रहने का अभ्यास शुद्ध धर्म है।

(४) **प्रज्ञा** - “मैं” “मेरे” अथवा प्रिय-अप्रियमूलक राग-द्वेष से रहित होकर हर व्यक्ति, वस्तु और स्थिति को जैसी है वैसी यथाभूत प्रज्ञापूर्वक देखने का अभ्यास चित्त की समता का अभ्यास, शुद्ध धर्म है।

दान, शील, समाधि और प्रज्ञा के ये चारों अभ्यास सार्वजनीन हैं, सांप्रदायिकता-विहीन हैं, सर्वजनहितकारी हैं, सर्वग्राह्य हैं। इसीलिए छिलकों से परे शुद्ध धर्म है। परंतु ऐसे शुद्ध धर्म का अभ्यास न कर, चाहें कि हम धार्मिक हों और उससे भी अधिक यह चाहें कि लोग हमें धार्मिक मानें, तो धर्म के नाम पर विज्ञापनबाजी ही करते हैं। नाना प्रकार के बाह्याचार करते हैं। नाना प्रकार के दार्शनिक वाद-विवाद करते हैं, वाणी-विलास और बुद्धि-विलास करते हैं, और इस प्रकार आत्म-प्रवंचना, जग-प्रवंचना के जंजाल में बुरी तरह जकड़ते जाते हैं। न आत्महित सधता है, न परहित।

आत्महित और परहित के लिए शुद्ध धर्म का जीवन जीना अनिवार्य है। शुद्ध धर्म का जीवन जीने के लिए धर्म की शुद्धता को जानना अनिवार्य है। धान को भूसे से, सार को छिलके से अलग करना अनिवार्य है। सार को महत्त्व देना सीखेंगे तो ही सार ग्रहण किया जा सकेगा।

शुद्ध धर्म का सार नहीं ग्रहण करेंगे तो द्वेष, द्रोह, दौर्मनस्य, दुराग्रह, अभिनिवेश, हठधर्मिता, पक्षपात, संकीर्णता, कट्टरता, भय, आशंका, अविश्वास, आलस, प्रमाद, कठमुल्लेपन से भरा हुआ जीवन, निस्तेज, निष्प्राण, निरुत्साही ही होगा; कुत्सित, क्लुपित, कुटिल ही होगा; व्याकुल, व्यथित, व्यग्र ही होगा। शुद्ध धर्म का सार ग्रहण करेंगे तो प्यार और करुणा, स्नेह और सद्भाव, त्याग और बलिदान, सहयोग और सहकार, श्रद्धा और विश्वास, अभ्युदय और विकास से भरा हुआ जीवन ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी ही होगा; उदात्त, अभय, अचिन्त्य ही होगा; सहज, सरल, स्वच्छ ही होगा; मंगल, कल्याण, स्वस्ति से भरपूर ही होगा।

शुद्ध धर्म का यही प्रत्यक्ष लाभ है। प्रत्यक्ष लाभ ही शुद्ध धर्म के सार की सही कसौटी है।